

पेड़

● डॉ. रमेशचन्द्र

भरी दोपहरी में लगता है कितना प्यारा पेड़
शीतल छाया बनकर देता सबको सहारा पेड़।

बच्चे खेलते छिपा छाई और खेलते आँख मिचौली
गिल्ली-डंडा खेलते रहते, करते जमकर हँसी ठिठौली
अपने ऊपर ले लेता है गर्मी सारा पेड़।

बड़े बड़े चीपाल बैठ कर करते हैं वार्तालाप
कोई हुक्का पीता तो कोई करता मंत्र का जाप
अपनी छाया में ले आता है भाईचारा पेड़।

कहीं बच्चों का कलरब होता कहीं बंसी की तान
जिसको छाया मिल जाती वहीं होता भाग्यवान
सर्दी, गर्मी, वर्षा से कभी न हारा पेड़।

प्राणों का संचार है, जब तक हैं ये पेड़
यह उपहार है कुदरत का इनको न कोई छेड़
जीवन और जगत् का है यह पालनहारा पेड़।

कितने ही बचपन बीते हैं इन पेड़ों की छाया में
यौवन और बुढ़ापा भी आ पहुँचा है काया में
सभी बदल जाते हैं लेकिन रहता ध्रुवतारा पेड़।

पेड़ों की छाया में सुनते हैं सब रामायण-गीता
इसकी ठंडी छाया में कितनों का पूरा जीवन बीता
सच पूछो तो मंदिर, मस्जिद और है गुरुद्वारा पेड़।

पेड़ न होता जल न होता और न होता जीवन
बिना पेड़ के मानव जीवन में किसी बड़ जाती उलझन
फल देता पत्थर के बदले, किस्मत का मारा पेड़।

पर्यावरण की जान कहलाता फिर भी करता रहता पेड़
खिड़की, चीखट, दरवाजे में सिमटता रहता पेड़
झर-झर रोता अपने कटने पर असहाय बेचारा पेड़।

लघुकथा

अभागा

● डॉ. सुनील कुमार अग्रवाल

राम प्रसाद का पिता अपने जीवन के अंतिम काल में गाँव से शहर
राम प्रसाद के पास आ गया था क्योंकि वह बीमार था और गाँव में
चिकित्सा सुविधा का अभाव था। उसने अपनी सारी सम्पत्ति अपने
जीवनकाल में ही राम प्रसाद को सौंप दी थी तथा स्वयं मेहनत-मजदूरी
करके पैतृक गाँव में ही रहकर गुजर-बसर करता था। बुढ़ावस्था और
बीमारी के कारण वह मर गया। रोने की आवाज सुनकर पड़ोसी आ
गए। राम प्रसाद अपने पिता की अंतिम यात्रा की तैयारी में लग गया।
राम प्रसाद की पत्नी चीख-चीखकर रोते-रोते बोली यह अभागा तो
कर्जदार ही मर गया। पड़ोसियों ने जब कर्ज के सम्बन्ध में जानना चाहा
तो वह बोली कि जब से यह हमारे पास शहर आया है, इसकी बीमारी
के इलाज में हमारा दो-दोई हजार रुपया खर्च हो गया। कह रहा था
ठीक होने पर मेहनत-मजदूरी करके चुका दूँगा। अब क्या खाक कर्ज
चुकाएगा। अब तो इसकी अंत्येष्टि में हमारा और खर्च हो जाएगा।
कर्जदार ही मर गया अभागा। ■

और अनौपचारिक बातचीत हुई।
कभी उनके बचपन की, कभी उनके
जीवन की, कभी उनके संघर्ष की,
कभी उनके चित्र-कर्म की या उनकी
संपूर्ण कला यात्रा के विभिन्न
सोपानों की। हर बार यह कोशिश
हुई कि जाना जाए कि वे अब क्या
कर रहे हैं।

इस बार वे बहुत थोड़े समय के
लिए आए थे। मिलते ही उन्होंने
मुझे निकट खींच लिया और बोले,
“भई, मुझे तुमसे बात करनी है,
खासकर, तुमसे ही क्योंकि तुमसे
अपने सभी कालखंडों पर चर्चा हो
चुकी है। अब जो मेरे काम का
‘फेज’ आया उसकी बाबद भी तुम्हें
बताना जरूरी होगा।”

और उस शाम हम आमने-
सामने थे और बिसलरी की
चुस्कियाँ लेते हुए बात कर रहे थे।

“मैं आधा हिन्दी में, आधा
अंग्रेजी में बोलूँगा। दिक्कत तो न
होगी? उन्होंने पूछा था।

मेरे सिर हिलाते ही वे शुरू हो
गए थे:

“क्या मैं बहुत सामान्य बातों
से आरंभ कर सकता हूँ जो मेरे
अनुसार मेरी पेंटिंग के लिए बहुत
महत्वपूर्ण हैं? मैं पहले भारत में
फिर विदेश में बहुत ही कठिन
अकादमिक ट्रेनिंग से गुजरा हूँ
जिसका लक्ष्य उन तत्वों को पाना
था जिन पर चित्रों की सौस निर्भर
है। मैं सौस की बात कर रहा हूँ,
आत्मा की नहीं।”

मुझे याद आता है कि 1979 में
भी उन्होंने चित्रों की सौस की बात
की थी। चित्रों के प्राण जिन पर
निर्भर हैं।

“मैं अपने, सिर्फ अपने बारे में
कह सकता हूँ। एक बच्चा जो
मध्यप्रदेश के बहुत ज्यादा खूबसूरत
जंगलों में पैदा हुआ, जिला
नरसिंहपुर, मंडला जहाँ सतपुड़ा-
बिंध्याचल, आम, केला, रोशिनियों
और अंधेरे, जंगल, जंगलों में
हाथी, हाथी मुझे खासतौर पर पसंद
था, ऊँट, घोड़े। पिता महकमा
जंगलात में थे। कोई हजार लोग
उनके साथ काम करते थे। बचपन
बहुत महत्वपूर्ण होता है किसी के
लिए भी। मैंने प्रकृति का सर्वोत्कृष्ट
तभी से सेंजोकर सुसिद्ध रख लिया
था- भविष्य के इस्तेमाल के लिए।
प्रकृति का लैंडस्केप, सूर्यव्यवस्था
और रहस्यभरा लैंडस्केप (यहाँ यह
बताना भी जरूरी होगा कि खा न
शुरूआत लैंडस्केप आर्टिस्ट के रूप
में ही की थी) जो मेरे निकट एक
चापुप यथार्थ था, उसे ही मुझे
आगे अपने काम में उतारना था पर

वैसा नहीं जैसा आँख देखती है, तो
कैसा? पर उसके लिए मुझे चित्र
की सही भाषा सीखनी थी, रंगों का
मिजाज समझना था और एक खास
लयात्मकता, जिस सबको, सीखने
में मुझे तीस साल लगे। रंगों के
इस्तेमाल की आजादी मैंने पा ली।
अर्किस्ट्रेशन भी मिला पर फिर भी
कुछ और था जो अब भी नदारद
था, जो शायद मूलभूत बात थी
और इसके लिए मुझे भारतीय
सौंदर्यबोध के निकट आना जरूरी
था। उसी की तलाश में मैं 1975 से
लगभग हर वर्ष भारत आता रहा कि
प्रकृति को पढ़ सकूँ-पहाड़,
नदियाँ, पेड़, यहाँ के टेक्स्टाइल,
संगीत, कविताओं-गीतों को जान
सकूँ जिससे कि वे सब मेरी संवेदना



के साथ सामंजस्य स्थापित कर
सकें। लेकिन इस सबमें काफी समय
लगा और जब 1982 में मैंने ‘मौ’
बनाया तो मुझे लगा कि मैंने कुछ पा
लिया है। अशोक वाजपेयी की
कविता-पंक्ति है ‘मौ! लौटकर जब
आऊँगा, क्या लाऊँगा?’ जिसे
प्रेरित है यह चित्र। इस चित्र में मैंने
अपने जीवन के मुख्य अनुभवों,
चिह्नों, प्रतीकों, दृश्यों और स्मृतियों
को चित्रित किया है। इसे मैंने अपने
प्यारे देश को समर्पित किया है,
अपनी मौ को यह मेरा उपहार है।”
जहाँ तक मुझे याद है कि
काला सूरज आपने 1953 में
पहली बार बनाया था। इसके
पीछे आपकी परिकल्पना
क्या है?

मैंने बताया है कि मेरा बचपन
अंधकार से गहराते जंगलों में बीता
है जहाँ डरावना और काला अंधेरा
सारे दृश्यों को अपने में समेट लेता
था और सुबह की पहली सुनहरी
किरण आने पर ही उस आतंक का
अंत होता था। भय से भीचक खड़े
हम उस किरण की प्रतीक्षा करते
रहते थे। उसी आतंक की अनुगुंज
गहरे-काले सूरज में है जिसकी
चमकमाहट की ज्वाला में एक घना
जंगल प्रदीप्त हो उठता है।

आप भारत से बाहर रहे हैं।
पश्चिम की यांत्रिक-वैज्ञानिक
प्रगति को निकट से देखा है।
क्या उनका प्रभाव आपके
विचारों और अंततः काम पर
नहीं पड़ा? और पड़ा भी तो
किस तरह आपके चित्रों की
आत्मा भारतीय ही बनी रही
सकी?

मेरे तमाम प्रयास भारतीय
परम्परा के प्रतीकों-चिह्नों को
समझने की दिशा में हैं। जैसे लिंग,
योनि आदि के गहरे अर्थ हैं भारतीय
दर्शन में जो अश्लीलता, अभद्रता
से रहित है। मेरा प्रयास है कि मैं
उनके निहित अर्थों का अध्ययन
करूँ। कुंडलिनी, पाँच चक्र,
त्रिमूर्ति, सरस्वती, गणेश, लक्ष्मी

की परिकल्पना और सार्थकता क्या
है। विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों
और क्रियाओं को समझूँ, उनका
अध्ययन करूँ, ऊपरी तौर पर नहीं,
बल्कि उनके गहरे अर्थ जानूँ जिन्हें मैं
बचपन से देखता रहा हूँ। इन सबकी
दोबारा खोज ही मेरी इन दिनों की
भारत-यात्राओं का उद्देश्य रहा है।
इधर चित्र कर्म व्यावसायिकता से
जुड़ता जा रहा है।

आप चित्र किस उद्देश्य से
बनाते हैं?

“मेरा मानना है कि कला-
अनुभव में किसी उच्च शक्ति की
भागीदारी आवश्यक है। आदमी तो
एक माध्यम होता है जिसके ज़रिए
दिव्य शक्तियाँ अपनी अभिव्यक्ति
करती हैं। इसीलिए मैं बार-बार
कहता हूँ कि कला कर्म में दिव्य
शक्तियों का सहयोग अनिवार्य है।

“एलोरा की गुफाओं में एक
महान शिल्पकार ने बड़ी ज्ञानशक्ति
से लिखा ‘एतम् कृतं वो कृतं
वृक्षयातु’ महान शिल्पी अपनी
बनाई हुई कृतियों को देखता है और
कहता है, ‘क्या मैंने यह बनाया है,
नहीं, यह तो अकस्मात् बन गया
है। कितनी विमर्श बात है कि चित्र
या मूर्ति बन जाते हैं, बनाए नहीं
जाते! ■



एक अकेला: वी.एस. गायतोंडे आजादी के बाद के दौर में देश के सबसे बड़े अमूर्त चित्रकार माने जाते हैं। मीडिया में उनके काम की चर्चा लगभग न के बराबर होती है, उनके संरक्षक चुनिंदा ही हैं। वे मननशीलता से संपृक्त सौंदर्यबोध वाले एकवर्णी चित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं।



कैनवस के रंगरेज: बारीक रेखाओं के बड़े रचनाकार माने जाने वाले एम.एच. रजा पेरिस और दिल्ली, दोनों जगह अपना वक्त बिताते हैं। बिंदु की तांत्रिक अवधारणा से गहरे प्रभावित रजा के गजब के ज्यामितीय चित्रों को दुनिया भर में देखा-सगाहा जाता रहा है।

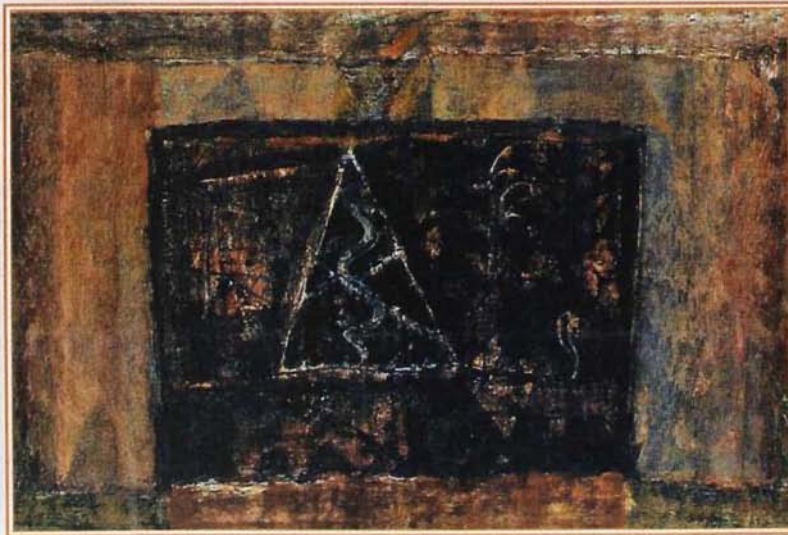


आदि विद्रोही: जे. स्वामीनाथन को उनकी काव्यात्मक बर्ड-माउंटेन सीरीज और आदिवासी जीवन के अमूर्त चित्रों के लिए याद किया जाता है। वे कूची और रंगों में तो सिद्धहस्त थे ही, कवि-लेखक के रूप में शब्दों से खेलने में भी दक्ष थे। अपने खुद के नियम बनाए, वह भी खुद तोड़ने के लिए।

खोज में निकले आधुनिक मिज़ाज के, कलाप्रेमी प्रवासी भारतीय के रूप में, या फिर किसी जाने-पहचाने दोस्त की तरह, यहां तक कि किसी पेंटिंग की फ्रेमिंग के लिए बढ़ई के चोले में भी आ पहुंचें तो ताज्जुब नहीं, और फिर अपनी लालच जाहिर किए बगैर कहेंगे कि "अच्छी कीमत लेकर इसे" उन्हें दे दीजिए ना। अभी कल तक तंगहाली में दिन काट रहे कलाकार अब कला दीर्घाओं और नीलामी घरों के बीच भागदौड़ से हांफे जा रहे हैं। हवाई यात्राओं और शैंपेन के अधिक सेवन से उनकी आंखें मूंदी जा रही हैं और सिर भारी हो रहा है। दिल्ली के दो चित्रकारों को तो हाल में तनाव और घबराहट की वजह से अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा था। एक चित्रकार तो अपने बिस्तर के नीचे बराबर झांक कर देखते रहते हैं कि कहीं कोई एजेंट या डीलर छिपा तो नहीं बैठा है। बहुप्रचारित सार्वजनिक नीलामियों में जबरदस्त खपत से प्रेरित, नवधनाढ्य संप्रांत तबके का नया कला प्रेम एक ऐसे जुनून का संकेत दे रहा है जो कुछ दिनों तक कायम रहेगा।

6.58 करोड़ रु.

वी.एस. गायतोंडे
शीर्षक रहित, क्रिस्टी में
नीलामी, मार्च '06



बंगलूर के एक पुराने कला संग्राहक अभिषेक पोद्दार गहरी सांस लेकर बोलते हैं, "मुझे मालूम है, यह सब उन्मादी और सनकी बाज़ार जैसा लगता है लेकिन यह सच है।" पोद्दार ने अस्सी के दशक के उत्तरार्ध में चित्र खरीदने शुरू किए थे जब मनजीत बावा या जे. स्वामीनाथन की कोई पेंटिंग कुछेक हजार रु. में मिल जाती थी। वे कहते हैं, "शुरू में जहां बाज़ार की नब्ज जानने वाले कुछ डीलरों ने कीमतों को चढ़ाया होगा, अब उन्होंने कीमतों में मजबूत भारतीय अर्थव्यवस्था की जमीन पर अदम्य रफ्तार हासिल कर ली है।"

बाज़ार में आए उफान से पहले के ज्यादातर गंभीर ग्राहकों की तरह पोद्दार ने भी खरीद अब कमोबेश रोक ही दी है: "हमें पहले तो किसी चित्र से लगाव होता था, फिर हम उस कलाकार से और उसकी चिंतन प्रक्रिया से रू-ब-रू होते थे। हम उसके काम में उसकी आत्मा को तलाशते थे। आज, तमाम बोली लगाने वाले बस किसी ब्रांड वाले नाम का दस्तखत देखते हैं।" ज्यादातर पुराने खरीदारों को लगने लगा है कि अब संरक्षण में वह जज्बा नहीं रहा जो उनमें था। अब एक नई दबंग पीढ़ी कलाकृतियों को खरीद ले जाने पर उतारू है। सच पूछिए तो मुंबई और दिल्ली के ऐसे कुछ पुराने खरीदार, जिन्होंने सत्तर और अस्सी के दशक में भारी मोलभाव के बाद हुसैन और सूज़ा सरीखे कलाकारों के काम खरीदे थे, चढ़े बाज़ार में अपने उन संग्रहों को निकालकर अच्छा पैसा पीट रहे हैं।

कला के हाट में एकाएक यह तेजी आखिर आई कैसे और मोटे पैसे वाले ये खरीदार आखिर कौन हैं? कई विशेषज्ञों का मत है कि भारतीय कला—जिसके बारे में उनका कहना है कि दुनिया के आला काम से उसकी तुलना की जा सकती है—की गुणवत्ता को देखते हुए उसे विश्वव्यापी मान्यता तो मिलनी ही थी। अंतरराष्ट्रीय कला बाज़ार में उसे प्रतिष्ठित करने के लिए कलाकारों और

समीक्षकों ने अथक प्रयास किए हैं। तीन

3.57 करोड़ रु.

जे. स्वामीनाथन
शीर्षक रहित, सूँदबी में
नीलामी, मार्च '06